

समाधि-पूर्वक मरण

देह के स्वतः छूटने, छुड़ाने तथा त्यागने को 'मरण' कहते हैं, जिसका आयु क्षय के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है।^१ जो जन्मा है, उसका एक-न-एक दिन मरण अवश्य होता है, चाहे वह किसी भी विधि से क्यों न हो। ऐसा कोई भी प्राणी संसार के इतिहास में नहीं, जो जन्म लेकर मरण को प्राप्त न हुआ हो। बड़े-बड़े साधन-सम्पन्न राजा-महाराजा, चक्रवर्ती, देव-दानव, इन्द्र-धरणेन्द्र, वैद्य-हकीम, डाक्टर और ऋषि-मुनि तक सब को अपना-अपना वर्तमान शरीर छोड़ कर काल के गाल में जाने के लिए विवश होना पड़ा है। कोई भी दिव्य-शक्ति-विद्या-मणि-मंत्र-तंत्र-श्रौषधादिक किसी को भी काल-प्राप्त मरण से बचाने में कभी समर्थ नहीं हो सके हैं। इसी से 'मरण' प्रकृति: शरीरिणाम्—मरना देहधारियों की प्रकृति में दाखिल है, वह उनका स्वभाव है, उसे कोई टाल नहीं सकता—यह एक अटल नियम बना हुआ है।

ऐसी स्थिति में जो विवेकी हैं—जिन्होंने देह और आत्मा के अन्तर को भली प्रकार से समझ लिया है—उनके लिए मरने से डरना क्या? वे तो समझते हैं कि जीवात्मा अलग और देह अलग है—दोनों स्वभावतः एक दूसरे से भिन्न हैं—जीवात्मा कभी मरता नहीं, मरण देह का होता है। जीव एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर उसी प्रकार धारण कर लेता है जिस प्रकार कि मैले कुचैले तथा जीर्ण-शीर्ण वस्त्र को त्याग कर नया वस्त्र धारण किया जाता है। इसमें हानि की कोई बात नहीं, वह तो एक प्रकार से आनन्द का विषय है और इसलिए वे भय, शोक तथा संक्लेशादि से रहित होकर सावधानी के साथ देह का त्याग करते हैं। इस सावधानी के साथ देह के त्याग को ही 'समाधि-मरण' कहते हैं। मरण का 'समाधि' विशेषण इस मरण को उस मरण से भिन्न कर देता है जो साधारण तौर पर आयु का अन्त आने पर प्रायः सांसारिक जीवों के साथ घटित होता है अथवा आयु का स्वतः अन्त न आने पर भी क्रोधादिक के आवेश में या मोह से पागल होकर 'अपवात' (खुदकुशी Suicide) के रूप में उसे प्रस्तुत किया जाता है और जिसमें आत्मा की कोई सावधानी एवं स्वरूप-स्थिति नहीं रहती। समाधि-पूर्वक मरण में आत्मा की प्रायः पूरी सावधानी रहती है और मोह तथा क्रोधादि कषायों के आवेग में कुछ नहीं किया जाता, प्रत्युत उन्हें जीता जाता है तथा चित्त की शुद्धि को स्थिर किया जाता है और इसी से कषय तथा काय के संलेखन-कृषीकरण-रूप में इस समाधि मरण का दूसरा नाम

१. आउकवएण मरणं जीवाणं जिण वरेहि पण्णात्तं । (समयसार)

आउकवएण मरणं आउं दाउं ण सक्कदे को वि । (कार्तिके०)

‘सल्लेखना-मरण’ भी है, जिसे आम तौर पर ‘सल्लेखना’ कहते हैं। यह सल्लेखना चूँकि ‘मारणान्तिकी होती है’—मरण का अवश्यम्भावी होना जब प्रायः निश्चित हो जाता है, तब की जाती है—इसलिए इसे ‘अन्तक्रिया’ भी कहते हैं, जो कि जीवन के अन्त में की जाने वाली आत्म-विकास-साधना-क्रिया के रूप में एक धार्मिक अनुष्ठान है और इसलिए अपघात, खुदकुशी (Suicide) जैसे अपराधों की सीमा से बाहर की वस्तु है। इस क्रिया-द्वारा देह का जो त्याग होता है वह आत्म-विकास में सहायक अर्हदादि-पंचपरमेष्ठी अथवा परमात्मा का ध्यान करते हुए बड़े यत्न एवं सावधानी के साथ होता है, जैसा कि स्वामी समन्तभद्र के ‘पंच-नमस्कार-मनास्तुनंत्यजेत्सर्वयत्नेन, इस वाक्य से जाना जाता है—यों ही विष खाकर, कूपादिक में डब कर, पर्वतादिक से गिरकर, अग्नि में जलकर, गोली मारकर या अन्य अस्त्र-शस्त्रादि से आघात पहुँचाकर सम्पन्न नहीं किया जाता।

इस सल्लेखना अथवा समाधि-मरण की योग्यता-पात्रता कब प्राप्त होती है और उसे किस उद्देश्य को लेकर किया जाता है इन दोनों का बड़ा ही सुन्दर निर्देश स्वामी समन्तभद्र ने सल्लेखना के अपने निम्न-लक्षण में अन्तर्निहित किया है—

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रजायां च निःप्रतिकारे ।

धर्माय तनु-विमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥ १२२ ॥

—समीचीन धर्मशास्त्र

इसमें बतलाया है कि ‘जब उपसर्ग, दुर्भिक्ष, जरा (बुढ़ापा) तथा रोग प्रतीकार (उपाय-उपचार) रहित असाध्य दशा को प्राप्त हो जाय अथवा (चकार से) ऐसा ही कोई दूसरा प्राणघातक अनिवार्य^२ कारण उपस्थित हो जाय तब धर्म की रक्षा-पालन के लिए जो देह का विधिपूर्वक त्याग है उसको सल्लेखना-समाधिमरण कहते हैं।’

इस लक्षण-निर्देश में निःप्रतीकारे और ‘धर्माय’ ये दो पद खास-तौर से ध्यान देने योग्य हैं। उपसर्गादिकका ‘निःप्रतीकार’ विशेषण इस बात को सूचित करता है कि अपने ऊपर आए हुए चेतन-अचेतन कृत उपसर्ग, दुर्भिक्ष तथा रोगादिक को दूर करने का जब कोई उपाय नहीं बन सकता तो उसके निमित्त को पाकर एक मनुष्य सल्लेखना का अधिकारी तथा पात्र होता है, अन्यथा उपाय के संभव और सशक्य होने पर वह उसका अधिकारी तथा पात्र नहीं होता।

दूसरा ‘धर्माय’ पद दो दृष्टियों को लिए हुए है—एक अपने स्वीकृत समीचीन धर्म की रक्षा-पालना की, और दूसरी आत्मीय धर्म की यथा शक्य साधना-आराधना की। धर्म की रक्षादि के अर्थ शरीर के त्याग की बात

१. मारणान्तिकीं सल्लेखना जोषिता।—त०सू० ७-२२.

२. भगवती आराधना में भी ऐसे दूसरे सदृश कारण की कल्पना एवं सूचना की गई है; जैसा कि उसके निम्न वाक्य से प्रकट है—

‘अण्णं पिचापि एदारिसम्भि अगाढ कारणे जा दे।’

सामान्य रूप से कुछ अटपटी-सी जान पड़ती है, क्योंकि ग्राम तौर पर 'धर्मार्थकाममोक्षाणां शरीरं साधनं मतम्' इस वाक्य के अनुसार शरीर धर्म का साधन माना जाता है, और यह बात एक प्रकार से ठीक ही है, परन्तु शरीर धर्म का सर्वथा अथवा अनन्यतम साधन नहीं है, वह साधन होने के स्थान पर कभी-कभी बाधक भी हो जाता है। जब शरीर को कायम (स्थिर) रखने अथवा उसके अस्तित्व से धर्म के पालने में बाधा का पड़ना अनिवार्य हो जाता है तब धर्म की रक्षार्थ उसका त्याग ही श्रेयस्कर होता है। यही पहली दृष्टि है जिसका यहाँ प्रधानता से उल्लेख है। विदेशियों तथा विधर्मियों के आक्रमणादि-द्वारा ऐसे कितने ही अवसर आते हैं जब मनुष्य शरीर रहते धर्म को छोड़ने के लिए मजबूर किया जाता है अथवा मजबूर होता है। अतः धर्मप्राण मानव ऐसे अनिवार्य उपसर्गादिक का समय रहते विचार कर धर्म-भ्रष्टता से पहले ही बड़ी खुशी एवं सावधानी से उस धर्म को साथ लिए हुए देह का त्याग करता है जो देह से अधिक प्रिय होता है।

दूसरी दृष्टि के अनुसार जब मानव रोगादि की असाध्यावस्था होते हुए या अन्य प्रकार से मरण का होना अनिवार्य समझ लेता है तब वह शीघ्रता के साथ धर्म की विशेष साधना-आराधना के लिए प्रयत्नशील होता है, किए हुए पापों की आलोचना करता हुआ महाव्रतों तक को धारण करता है और अपने पास कुछ ऐसे साधर्मिजनों की योजना करता है जो उसे सदा धर्म में सावधान रक्खें, धर्मोपदेश सुनावें और दुःख तथा कष्ट के अवसरों पर कायर न होने दें। वह मृत्यु की प्रतीक्षा में बैठता है, उसे बुलाने की शीघ्रता नहीं करता और न यही चाहता है कि उसका जीवन कुछ और बढ़ जाय। ये दोनों बातें उसके लिए दोष रूप होती हैं; जैसा कि इस सल्लेखना व्रत के अतिचारों की कारिका (१२९) के 'जीवितमरणांशं से' वाक्य से जाना जाता है।

स्वामी समन्तभद्र ने अपने उक्त धर्म-शास्त्र में 'अन्तःक्रियाधिकरणतपः फलं सर्वदाशिनः स्तुयते इत्यादि कारिका (१२३) के द्वारा यह प्रतिपादन किया है कि 'तप का फल अन्तःक्रियः के-सल्लेखना, संन्यास अथवा समाधिपूर्वक मरण के-आधार पर अवलम्बित है। अर्थात् अन्तःक्रिया यदि सुघटित होती है-ठीक समाधि-पूर्वक मरण बनता है-तो किये हुए तप का फल भी सुघटित होता है; अन्यथा उसका फल नहीं भी मिलता। अन्तःक्रिया से पूर्व वह तप कौन-सा है जिसके फल की बात को यहाँ उठाया गया है? वह तप श्रावकों का अणुव्रत-और शिक्षाव्रतात्मक चारित्र्य है और मुनियों का महाव्रत-गुप्त-समित्यादि रूप चारित्र्य है। सम्यक चारित्र्य के अनुष्ठान में जो कुछ उद्योग किया जाता है और उपयोग लगाया जाता है वह सब 'तप' कहलाता है।^१ इस तप का परलोक-सम्बन्धी यथेष्ट फल प्रायः तभी प्राप्त होता है जब समाधि-पूर्वक मरण होता है; क्योंकि मरण के समय यदि धर्मानुष्ठान रूप परिणाम न होकर धर्म की विराधना हो जाती है तो उससे दुर्गति में जाना पड़ता है और वहाँ पूर्वोपाजित शुभ कर्मों के फल को भोगने का कोई अवसर ही नहीं मिलता-निमित्त के अभाव में वे शुभ कर्म बिना रस दिये ही बिखर जाते हैं। एक बार दुर्गति में पड़कर बहुधा दुर्गति की परम्परा बन जाती है और पुनः धर्म को प्राप्त करना बड़ा ही कठिन हो जाता है। इसी से श्री शिवार्य जी अपनी भगवती आराधना में लिखते हैं कि 'दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य रूप धर्म में चिरकाल तक निरतिचार प्रवृत्ति करने वाला

१. जैसा कि भगवती आराधना की निम्न गाथा से प्रकट है:—

चरगाम्मि तीम्म जो उज्जमो य आउंजणो य जो होई ।

सो चेव जिणोहि तवो भणियो असदं चरंतस्स ॥ १० ॥

मनुष्य भी यदि मरण के समय उस धर्म की विराधना कर बैठता है तो वह अनन्त संसारी तक—अनन्त कालपर्यन्त संसार भ्रमण करने वाला हो जाता है—

सुचिरमपिनरिदिचारं विहिरित्ता णाण-दंसण-चरित्ते ।

मरणे विराधयित्ता अणंतसंसारिओ दिट्ठो ॥ १५ ॥

इन सब बातों से स्पष्ट है कि अन्त समय में धर्म-परिणामों की सावधानी न रखने से यदि मरण बिगड़ जाता है तो प्रायः सारे ही किये कराये पर पानी फिर जाता है। इसी से अन्त समय में परिणामों को संभालने के लिए बहुत बड़ी सावधानी रखने की जरूरत है और इसी से उक्त कारिका के उत्तरार्द्ध 'नस्माद्योवद्विभवं समाधि मरणे प्रयतितव्यम्' में इस बात पर जोर दिया गया है कि जितनी भी अपनी शक्ति हो, उसके अनुसार समाधिपूर्वक मरण का पूरा प्रयत्न करना चाहिए।

इन्हीं सब बातों को लेकर जैन-समाज में समाधिपूर्वक मरण को विशेष महत्व प्राप्त है। उसके नित्य की पूजा-प्रार्थनाओं आदि में 'दुक्खखण्णो कम्म-खण्णो समाहि मरणं च बोहिलाहो वि' जैसे वाक्यों-द्वारा समाधि मरण की बराबर भावना की जाती है, और भगवती-आराधना जैसे कितने ही ग्रन्थ उस विषय की महती चर्चाओं एवं मरण-सम्बन्धी सावधानता की प्रक्रियाओं से भरे पड़े हैं। लोक में भी 'अन्तसमा सो समा' अन्तमता सो मता, और 'अन्त भला सो भला' जैसे वाक्यों के द्वारा इसी अन्त-क्रिया के महत्व को व्यापित किया जाता है। यह क्रिया गृहस्थ तथा मुनि दोनों के लिए विहित एवं निर्दिष्ट है।

ऐसी स्थिति में जो मरणासन्न है, जिसने सल्लेखनात्मक संन्यास लिया है अथवा समाधिपूर्वक मरण का संकल्प किया है उसके परिणामों को ऊँचा उठाने की—गिरने न देने की—बड़ी जरूरत होती है; क्योंकि अनादि, अविद्या तथा मोहममतादिक के संस्कार-वश और रोगादि—जन्य वेदना के असह्य होने पर बहुधा परिणामों में गिरावट आ जाती है, परिणामों की आर्त्त—रौद्रादिरूप परिणति होकर संक्लेशता बढ़ जाती है और उससे मरण बिगड़ जाता है। अतः सुन्दर, सुमधुर तात्त्विक वचनों के द्वारा उसके आत्मा में भेद-विज्ञान को जगाने की जरूरत है, जिससे वह अपने को देह से भिन्न अनुभव करता हुआ देह के छूटने को अपना मरण न समझे, रोगादिक को देहाश्रित समझे और देह के साथ जिनका सम्बन्ध है, उन सब स्त्री-पुत्र-कुटुम्बादिको 'पर' एवं अवश्य ही वियोग को प्राप्त होने वाले तथा साथ न जाने वाले समझकर उनसे मोह-ममता का त्याग कर चित्त में शान्ति धारण करे; उसके सामने दूसरों के ऐसे भारी दुःख-कष्टों के और उनके अडोल रहकर समताभाव धारण करने तथा फलतः सद्गति प्राप्त करने के उदाहरण भी रखने चाहिए, जिससे वह अपने दुःख कष्टों को अपेक्षाकृत बहुत कम समझे और व्यर्थ ही आकुल-व्याकुल न होकर हृदय में बल तथा उत्साह की उदीरणा करने में समर्थ होवे। साथ ही इस देह के छूटने से मेरी कोई हानि नहीं; यह तो चोला बदलना मात्र है, पुराने जीर्ण अथवा रोगादि से पीड़ित शरीर के स्थान पर धर्म के प्रताप से नया सुन्दर शरीर प्राप्त होगा, जिससे विशेष धर्म-साधना भी बन सकेगी, ऐसी भावना भाता हुआ मरण को उत्सव के रूप में परिणत कर देवे। इसी उद्देश्य को लेकर 'मृत्यु-महोत्सव और 'समाधिमरणोत्साह दीपक' आदि अनेक प्रकरण-ग्रन्थों की रचना हुई है। अस्तु।

जो सज्जन किसी के भी समाधि मरण में सहायक होकर—अपनी आवश्यक सेवाएँ प्रदान कर उसे विधिपूर्वक सम्पन्न कराते हैं उनके समान उसका दूसरा कोई उपकारी या मित्र नहीं है। और जो इष्ट-मित्रादिक उस मरणासन्न के हित की—कोई चिन्ता तथा विधि—व्यवस्था न करके अपने स्वार्थ में बाधा पड़ती देखकर रोते—पीटते—चिल्लाते हैं तथा ऐसे वचन मुँह से निकालते हैं जिससे अग्रयमाण—आतुर का चित्त विचलित हो जाए, मोह तथा वियोग-जन्य दुःख से भर जाय और वह आत्मा तथा अपने भविष्य की बात को भुलाकर संक्लेश—परिणामों के साथ मरण को प्राप्त होवे, तो वे इष्ट मित्रादिक वस्तुतः उसके सगे सम्बन्धी नहीं, किन्तु अपने कर्तव्य से गिरे हुए अपकारी एवं शत्रु होते हैं। ऐसे ही लोगों को स्वार्थ के सगे अथवा मतलब के साथी कहा जाता है। अतः मरणासन्न के सच्चे सगे सम्बन्धियों को चाहिए कि वे अपने कर्तव्य का पूर्णतत्परता के साथ पालन करते हुए उसके भविष्य एवं परलोक सुधारने का पूरा प्रयत्न करें। अपने रोने-रडाने के लिए तो बहुत समय अवशिष्ट रहता है, मरणासन्न के सामने रो-रडाकर तथा विलाप करके उसकी उस अमूल्य मरण-घड़ी को नहीं बिगाड़ना चाहिए, जिसे समता भाव तथा शुभ परिणामों के अस्तित्व में कल्प वृक्ष के समान मन की मुराद पूरी करने वाली कहा गया है और इसलिए इसे उदसव, पर्व तथा त्यौहार के रूप में मनाने की जरूरत है।

